IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

भारतीय समाज में दलित वर्ग अतीत से वर्तमान

डॉ.राजबली पासवान
सहायक प्राध्यापक
राजनीति विज्ञान विभाग
रामेश्वर महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

सारांश

भारतीय समाज का जो वर्तमान स्वरूप है उसका विकास किसी निश्चित तिथि, दिन अथवा वर्ष में नही हुआ है अपितु समय के साथ–साथ उसका विकास हुआ है। दलित इतिहास का वर्तमान स्वरूप जानने के लिए आर्यों के आगमन से पूर्व की समाज व्यवस्था के अर्न्तगत मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ–साथ भारत की प्राचीन वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। भारत में जाति व्यवस्था का प्रारम्भ वैदिक काल का अंतिम चरण (800–500 ईसा पूर्व) और उत्तर वैदिक काल (500–200 ईसा पूर्व) से माना जाता है। भारत में जाति प्रथा की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित है। जिनमें परम्परागत सिद्धान्त, ब्राह्मणीय सिद्धान्त, प्रजातीय सिद्धान्त एवं व्यावसायिक सिद्धान्त प्रमुख हैं। भारतीय जाति व्यवस्था भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, एवं आर्थिक कारकों की अन्तः क्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में अनेक कारकों का योगदान रहा है।

शब्द कंजी : *भारतीय जाति व्यवस्था, समाज व्यवस्था, समाज का वर्तमान स्वरूप, संस्कृति, सामाजिक अवधारणा*

भूमिका

भारतीय समाज में एक ऐसा वर्ग रहा है जो मानव होते हुये भी पशुवत जिंदगी जीने के लिए विवश था जिसे हम अछूत, शूद्र या दलित के नाम से जानते हैं। इनका दुःखद इतिहास रहा है। हजारों वर्षों से दलित शोषण, वंचन, और उत्पीड़न के शिकार रहे हैं। भारतीय समाज विभिन्न धर्मों, जातियों, संप्रदायों एवं संस्कृतियों का अनोखा सम्मिश्रण है। 'वसुधैव कुटुम्बकम' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः' जैसे मानवीय आदर्श इस संस्कृति की प्रमुख विशेषता रही है। परंतु यह जन्मगत असमानता पर आधारित अनेक जातियों, उपजातियों में बँटा हुआ है। दलित वर्ग आज भी सामाजिक, आर्थिक, राजनतिक एवं शैक्षणिक

पिछड़ेपन के कारण एवं प्रशासनिक भ्रष्टाचार के कारण नारकीय जीवन जीने के लिए विवश है, तथा आज भी अपने जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करने में असमर्थ है इनकी ये दयनीय स्थिति एक दिन में नहीं हुई है अपितु सदियों से चली आ रही है तथा इनके ऊपर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक निर्योग्ताएं लादी गयी हैं। उनको शिक्षा एवं सम्पत्ति अर्जित करने से भी रोका गया।

दलित एक सामाजिक अवधारणा है। 'दलित' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ज्योतिबा फूले ने समाज के हीन–दीन लोगों के लिए किया था। दलित मराठी भाषा का शब्द है। जिसका शाब्दिक अर्थ है दलन किया हुआ, कुचला हुआ, गरीब, शोषित एवं वंचित। कंवल भारती दलित शब्द को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि ''वास्तव में दलित व्यक्ति वही हो सकता है जो सामाजिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से दीन–हीन है जिस पर अस्पृश्यता का नियम लागू किया गया जिसे कठोर एवं गंदे कर्म करने के लिए बाध्य किया गया जिसे शिक्षा ग्रहण करने एवं स्वतन्त्र व्यवसाय करने से मना किया गया जिस पर सछूतों ने सामाजिक निर्योग्यताओं की संहिता लागू की वही और सिर्फ वही दलित है।''1

समाज में कई ऐसी विद्वान हुए जो अछूत या शूद्र, आदिवासी, पिछड़े एवं महिलाओं को दलित वर्ग के अन्तर्गत मानते हैं क्योंकि उनका मानना है कि इन सभी का शोषण एवं दमन हुआ है। वहीं दूसरी ओर अनेक विद्वानों ने केवल शूद्रों के लिए दलित शब्द का प्रयोग किया है। दलित से आशय केवल शूद्रों से लिया है जो संविधान के अनुच्छेद–341 (1) तथा (2) के अन्तर्गत अनुसूचित जाति की श्रेणी में रखे गये है। शूद्रों के लिए डॉ0 भीम राव अम्बेडकर ने द्लित तथा महात्मा गॉधी ने हरिजन शब्द का प्रयोग किया है। ब्रिटिश भारत ने 1921 की जनगणना में इन अस्पृश्य जातियों के लिए सरकारी तौर पर 'डिप्रेस्ड क्लासेज' शब्द का प्रयोग किया गया था। भारतीय संविधान में कहीं भी दलित शब्द का प्रयोग नही किया गया है। बल्कि इस स्थान पर अनुसूचित जाति का ही प्रयोग मिलता है। दलित सशक्तीकरण का सामान्य अर्थ है दलित को शक्ति सम्पन्न बनाना। परन्तु व्यापकता में इसका अभिप्राय दलितों के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं शैक्षणिक स्थिति में सुधार के साथ–साथ राजनीतिक सत्ता में भागीदारी सुनिश्चित करने से है। सशक्तीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कोई व्यक्ति या समूह दिन प्रति दिन पहले से बेहतर स्थिति में अपने आप को पाता है। दलित सशक्तीकरण की व्याख्या करने के लिए आमतौर पर जो शब्दावली उपयोग की जाती है उसमें शिक्षा तक उनकी पहुँच, संसाधनों पर नियंत्रण और उनकी सुलभता, आत्मसम्मान, अधिकारों के लिए संघर्ष, स्वतंत्रता, समानता एवं निर्णय लेने की सहभागिता के संदर्भ में की जाती है।

भारतीय समाज का जो वर्तमान स्वरूप है उसका विकास किसी निश्चित तिथि, दिन अथवा वर्ष में नही हुआ है अपितु समय के साथ–साथ उसका विकास हुआ है। दलित इतिहास का वर्तमान स्वरूप जानने के लिए आर्यों के आगमन से पूर्व की समाज व्यवस्था के अर्न्तगत मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास के साथ–साथ भारत की प्राचीन वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। यद्यपि यह सत्य है कि मानव सभ्यता और संस्कृति के विकास क्रम के संदर्भ में निश्चित एवं स्पष्ट प्रमाण नहीं है फिर भी इतिहासकार, नृतत्ववेत्ता एवं समाजशास्त्री सिन्धु घाटी सभ्यता के पूर्व की आदिम समाज व्यवस्था के विकास की एक धुंधली सी तस्वीर प्रस्तुत करते हैं। जिसमें ऐतिहासिकता कम तथा कल्पना एवं अनुमान का सम्मिश्रण अधिक है।

भारत में जाति व्यवस्था का प्रारम्भ बिन्दु वैदिक काल का अंतिम चरण (800–500 ईसा पूर्व) और उत्तर वैदिक काल (500–200 ईसा पूर्व) से माना जाता है। इससे पहले भारत में सामाजिक स्तरीकरण का आधार श्रम विभाजन था। लेकिन उत्तर वैदिक काल के बाद सामाजिक स्तरीकरण का आधार जन्म ने ले लिया। जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के कई सिद्धांत प्रचलित हैं। जिसमें प्रजातीय कारक, व्यावसायिक पूर्वाग्रह, कर्म का दर्शन तथा पवित्रता एवं अपवित्रता की धार्मिक विचारधारा आदि का महत्त्वपूर्ण योगदान है। पश्चिम एवं भारतीय विचारकों के विभिन्न मतों के आधार पर भारत में जाति प्रथा की उत्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त प्रचलित है। जिनमें परम्परागत सिद्धान्त, ब्राह्मणीय सिद्धान्त, प्रजातीय सिद्धान्त एवं व्यावसायिक सिद्धान्त प्रमुख हैं।

जाति व्यवस्था की उत्पत्ति का परम्परावादी सिद्धान्त धर्म ग्रन्थों और वेद पर आधारित है। यह सिद्धान्त जाति व्यवस्था को दैवीय विधान मानने के साथ–साथ स्वाभाविक और प्राकृतिक भी मानता है। इस सिद्धान्त की मान्यता है कि चार वर्ण ही चार जातियां है और चारों जातियां बह्म के शरीर से निकली है। किसी व्यक्ति की जाति में सदस्यता धर्म एवं कर्म सम्बंधी सिद्धान्तों के आधार पर निर्धारित की जाती है। कर्म सम्बन्धी सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति अपने पूर्वजन्मों के कर्मों के आधार पर किसी विशेष जाति में जन्म लेता है। यह संयोग मात्र नही है वह उसी के योग्य था। धर्म सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति को जाति प्रणाली और जाति के मापदण्डों का पालन करना ही उसका धर्म है।

अबे डुबायस को जाति व्यवस्था के उत्पत्ति के ब्राह्मणीय सिद्धान्त का प्रणेता माना जाता है। यह सिद्धान्त जाति व्यवस्था को ब्राह्मणों की चतुराई पूर्ण युक्ति मानता है। ब्राह्मणों ने अपनी श्रेष्ठता और सत्ता चिरस्थायी बनाये रखने के लिए गैर ब्राह्मणों के साथ खान–पान, विवाह, तथा सामाजिक सम्बन्धों में प्रतिबन्ध लगा दिये। जी. एस. घुर्ये ने भी जाति की उत्पत्ति के ब्राह्मणीय सिद्धान्त का समर्थन किया है। प्रजातीय सिद्धान्त का प्रतिपादन हरबर्ट रिजले ने किया है। जी.एस. घुर्ये, मजूमदार जैसे प्रसिद्ध विद्वान ने

भी इस सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार संस्कृतियों के संघर्ष तथा प्रजातियों के सम्पर्क से भारत में जाति व्यवस्था के निर्माण की प्रक्रिया सम्भव हुई है।

नेसफील्ड को जाति की उत्पत्ति के व्यावसायिक सिद्धान्त का जनक माना जाता है। इस सिद्धान्त का मानना है कि प्रजाति या धर्म को जाति की उत्पत्ति से कोई लेना देना नही है। व्यवसाय ही जाति व्यवस्था की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी है। जाति प्रथा व्यवसायों से जुड़ी श्रेष्ठता व हीनता की भावना का नतीजा है। बहुकारकीय सिद्धान्त के समर्थकों का मानना है कि भारतीय जाति व्यवस्था भौगोलिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, एवं आर्थिक कारकों की अन्तःक्रिया का स्वाभाविक परिणाम है। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भारतीय जाति व्यवस्था की उत्पत्ति में अनेक कारकों का योगदान रहा है।

पुरातत्व के पूर्व महानिदेशक बी.बी. लाल और डॉ भीम राव अम्बेडकर का मत है कि आर्य बाहर से नही आये थे अपितु यहीं के निवासी थे। तो ऐसे हालात में ऋग्वेद के मंत्रों के दूसरे ही अर्थ निकलेंगे। लेकिन अब तक की मान्यताओं के अनुसार इस बात से इनकार नही किया जा सकता कि भारत जातियों, धर्मों और विभिन्न संस्कृतियों की एक प्रयोगशाला रहा है। प्राचीन काल से ही विदेशी मूल के लोग भारत की आर्थिक सम्पन्नता के कारण उसकी ओर आकर्षित होते रहे हैं। इतिहासकारों, नृतत्वशास्त्रियों समाज वैज्ञानिकों के विचार में आर्यों से पूर्व विश्व के दूसरे भागों से इस भूभाग पर बसने के लिए द्रविण आये थे। ऐसी मान्यता है कि भारत के आदिम निवासी द्रविण–पूर्व के बाशिन्दे थे। यह बर्बर एवं आदिवासी समाज था।[2]

चतुर्वर्ण की उत्पत्ति के बारे में प्राचीनतम अनुमान ऋग्वेद के पुरूषसूक्त में वर्णित सृष्टि संबंधी पुराकथा में पाया जाता है। ऐसा माना जाता है कि इस संहिता के दशवें मंडल में यह बाद में जोड़ा गया है। विभिन्न विद्वानों का मानना है कि आर्यों ने भारत मे आने के पश्चात यहां के मूल निवासियों से युद्ध किया, युद्ध मे विजेता होने के कारण उनकी हत्या करके उनकी सम्पत्ति (पशुधन आदि) को हड़प लिया और उनकी विधवा स्त्रियों को दासी तथा बचे हुए अनार्यों को दास बनाकर उनसे घरेलू काम करवाने लगे और वैदिक काल के अन्त में यही अनार्य शूद्र कहलाने लगे।[3]

मनुस्मृति में चतुर्वर्णीय अवधारणा की उत्पत्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है–

लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहुरुपादतः।

बाह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्न्तयन्त।।

(मनुस्मृति 1/31)

अर्थात प्रजापति ने लोकों की वृद्धि के लिए मुख, बाहू, अरु, और चरणों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्रों को उत्पन्न किया है।[4] यह बात तार्किकता की कसौटी पर खरी नही उतरती। वैदिक काल से लेकर स्वतंत्रता की प्राप्ति तक दलितों की स्थिति दयनीय बनी रही हालाँकि इस बीच सामाजिक सुधारकों द्वारा चलायें गएं समाज सुधार आन्दोलनों का एक क्रम मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक चलता रहा फिर भी उनकी स्थिति में बहुत सकारात्मक परिर्वतन नही हुआ।

दलितों की उत्पति से ही उनके शोषण की कहानी शुरु हो जाती है जो आज तक जारी है। वैदिककाल, उत्तरवैदिकाल, मौर्यकाल, गुप्तकाल एवं राजपूत काल में उनका शोषण जारी रहा। उनकों शिक्षा ग्रहण करने, सार्वजनिक स्थानों पर जाने, मंदिरों मे प्रवेश करने एवं मंदिरों में पूजापाठ करने की मनाही थी। उनकी स्थिति को उनके पूर्व जन्म का पाप बताकर स्थायित्व प्रदान कर दिया गया। शिक्षा के अभाव के कारण उन लोगों ने न केवल ऐसे बेबुनियाद बात को स्वीकार किया अपितु पीढी दर पीढ़ी स्थानांतरित भी किया। स्वतंत्रता के बाद दलित आंदोलन की प्रकृति में व्यापक बदलाव आया। अब स्वतंत्रता के पहले वाली स्थिति नही रही। हमने अपना संविधान बनाया जिसके द्वारा उदारवादी लोकतांत्रिक और समतामूलक समाज बनाने का संकल्प लिया। संविधान में समतामूलक समाज की स्थापना के लिए अनेक प्रावधान किये गये। संविधान द्वारा सभी नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक अधिकार प्रदान किये गये। संविधान द्वारा सभी प्रकार के विभेद का निषेध किया गया। यहां तक कि अस्पृश्यता को अपराध की श्रेणी में रखा गया। उसके बावजूद दलितों के साथ छुआछूत का व्यवहार, उनका शोषण, उनके खिलाफ अत्याचार कमोवेश आज भी जारी हैं।

भीमराव अम्बडेकर जब तक जीवित थे। तब तक सत्ता में दलितों की भागीदारी के लिए प्रयास करते रहे। 1952 के लोकसभा चुनाव में डॉ0 अम्बेडकर ने अपनी पार्टी 'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ' को मैदान में उतारा था लेकिन उनकी पार्टी को सफलता नही मिली। पार्टी की असफलता के बाद डॉ0 भीम राव अम्बेडकर ने यह महसूस किया कि दलितों के पास एक ऐसा राजनीतिक दल हो जिसके पास सुदृढ़ एवं व्यापक चुनावी रणनीति हो। इसके लिए उन्होंने 'रिपब्लिकन पार्टी आफ इण्डिया' नामक राजनीतिक पार्टी बनाने की योजना बनायी लेकिन यह पार्टी उनके जीवनकाल में मूर्त रूप नहीं ले सकीं। डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के स्वर्गवास के बाद उनके अनुयायियों ने 1957 में 'रिपब्लिकन पार्टी आफ इण्डिया' की स्थापना की। इस पार्टी ने 'अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ' की जगह ली।

भारत में डॉ0 अम्बेडकर के बाद दलितों को राजनीतिक रूप से संगठित करने में अगर किसी ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी तो वे मान्यवर कांशीराम थे। अम्बेडकर के विचारों को उत्तर भारत में लोकप्रिय

बनाने का कार्य कांशीराम ने ही किया। वास्तव में अगर डॉ0 भीमराव अम्बेडकर के सिद्धांतो पर चलकर किसी ने राजनीति की तो वे कांशीराम थे। उन्होंने जीवन भर अविवाहित रहने का निर्णय लेकर अपना पूरा जीवन दलित कल्याण में समर्पित कर दिया।

आज के दौर में हम किसी भी राजनीतिक दल को दलितों का राजनीतिक दल नहीं कह सकते हैं क्योकि हर राजनीतिक दल में दलित नेता हैं। सभी राजनीतिक दलों का दलितों के प्रति व्यवहार कमोवेश एक जैसा ही है। आजादी के बाद से ही लम्बे अरसे तक कांग्रेस ने दलितों का वोट बैंक के रूप में इस्तेमाल किया। कांशीराम के उदय के बाद उत्तर भारत में दलितों का रूझान बसपा की तरफ बढा और कमोवेश बना हुआ है।

आज के दौर में हर राजनीतिक दल दलितों को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए अनेक नये–नये तरीके अपना रहे हैं। जहां भाजपा डॉ0 बी.आर अम्बेडकर को सम्मानित कर दलितों के दिल में जगह बनाना चाह रही है वहीं कांग्रेस अध्यक्ष राहुल गांधी दलितों के घर भोजन कर अपने आप को दलित हितैषी दिखने की कोशिश कर रहे हैं। मायावती (बसपा) उत्तर भारत में खासकर उत्तर प्रदेश में दलित वोट पर तो अपना एकाधिकार ही समझती हैं। महाराष्ट्र की रिपब्लिक पार्टी आफ इंडिया तथा बिहार की लोक जन शक्ति पार्टी के मुखिया दलित होने के कारण अपने को दलितों का नेता मानते हैं। यह बात अलग है कि दोनों दल दलित विमर्श को हाशिये पर रखकर सत्ता का आनन्द ले रहे हैं। यह है कि सभी दलित नेता अम्बेडकर तो बनना चाहते हैं लेकिन बिना त्याग और मेहनत के, जो संभव नही है। डॉ0 अम्बेडकर बनना आसना नहीं है उसके लिए व्यक्ति में त्याग मेहनत की जो आवश्यकता है वह आज के दलित नेता जो अपने को अम्बेडकर के अनुयायी कहते है उनके चरित्र में ही दिखता है। वे समाज कल्याण कम अपनी कल्याण की लालसा अपने हृदय में छूपाये रखते है। इन सब आधार पर कहा जा सकता है की वर्तमान में कोई भी दलित नेता नहीं है। अम्बेडकर बनने के लिए आपका आग की भट्टी में तपना होगा। कोई भी नेता यहां तक की वर्तमान में सभी दलित हित के मामले में कोई भी राजनीतिक दल ईमानदार नहीं। सबकी दिलचस्पी केवल दलितों का वोट हासिल करने में ही है। यही कारण है कि दलित वर्ग के लोग आज भी उत्पीड़न एवं भेदभाव के शिकार हो रहे हैं। यह एक तथ्य है कि दलितों के उत्पीड़न और भेदभाव के तमाम मामलों में राजनीतिक दलों के नेताओं और कार्यकताओं अथवा उनके समर्थकों का ही हाथ होता है। अगर हर राजनीतिक दल दलितों के हितैषी हैं और उन्हें बराबरी का हक देने के लिए प्रतिबद्ध है तो फिर ऐसे आंकड़े क्यों सामने आ रहे हैं? दलितों का उत्पीड़न क्यों हो रहा है? जाहिर है ऐसा इसलिए है क्योंकि दलित हित के मामले में राजनीतिक दलों की कथनी और करनी में अन्तर है। वे कहते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं। आखिर कितने ऐसे राजनीतिक दल हैं जिनमें सक्षम दलित नेता सरकार या संगठन के महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन हैं।[5]

निष्कर्ष

वर्तमान में दलित आंदोलन हाशिये पर है। कोई ऐसा दलित नेता नहीं है जो सभी दलितों को स्वीकार्य हो। कोई दलितों का कल्याण करना चाहता है तो मेरा मानना है कि सामाजिक संगठन बनाकर ही दलितों को जागरूक, शिक्षित और स्वावलम्बी बना सकता है। हालांकि हम राजनीतिक दल की महत्ता को दरकिनार नहीं कर सकते लेकिन उनकी अपनी सीमाएं हैं। वास्तव में कोई राजनीतिक दल सिर्फ दलित एजेण्डे के आधार पर चुनाव जीत जाए यह संभव ही नही है। उसे चुनाव जीतने के लिए समाज के सभी वर्गों का समर्थन हासिल होना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ

1. भारती, कॅवल, 'दलित विमर्श की भूमिका' बोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2002 पृ0 22
2. पूरनमल : अस्पृश्यता एव दलित चेतना, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपर, 1999, पृ0–12
3. शर्मा, रामशरण : शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1992,पृ0 38
4. शास्त्री, रजनीकान्त : हिन्दू जाति का उत्थान और पतन, किताब महल प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004, पृ0 245
5. रघुवीर सिंह : 'डॉ. अम्बेडकर और दलित चेतना', पृ. 7